

घोषणापत्र और कार्यक्रम

(संगठन के भीतर व्यापक विचार-विमर्श और सुझावों के लिए एक मसौदा)

1. पृष्ठभूमि

1.1 1982 में पारित जलेस घोषणापत्र ने एक ऐतिहासिक बिंदु पर सदस्यों की सामूहिक समझ को प्रतिबिंबित किया। तब से तीन दशक से ज़्यादा समय बीत चुका है। इन दशकों में बदलाव इतने बड़े पैमाने पर हुए हैं कि उस घोषणापत्र की बहुत सारी बातों के पुनरावलोकन की ज़रूरत महसूस की जा रही है।

1.2 यह घोषणापत्र और कार्यक्रम हम ऐसे समय में ला रहे हैं जब देश की सत्ता पर नव-उदारवाद और साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के गंठजोड़ का प्रतिनिधित्व करनेवाली ताकतें क्राबिज़ हैं। जनवादी लेखक संघ के आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन में पारित 'इलाहाबाद घोषणा' की शुरुआत ही इस बात से हुई थी कि 'भारतीय समाज इस समय फ़ासीवाद के मुहाने पर खड़ा है। सच तो यह है कि देश के अनेक हिस्सों में लोग अघोषित फ़ासीवाद की परिस्थिति में ही सांस ले रहे हैं।' 14-15 फरवरी 2014 को इलाहाबाद में आयोजित आठवां राष्ट्रीय सम्मेलन लोकसभा चुनावों की पृष्ठभूमि में हुआ था। इस सम्मेलन के तीन महीने बाद ही लोकसभा में पूर्ण बहुमत के साथ नरेंद्र मोदी प्रधानमंत्री के पद पर आसीन हुए। उसके बाद से गुज़रे इन सालों में हुई घटनाओं ने यह साबित कर दिया है कि चार साल पहले इलाहाबाद में लेखकों ने जिस बात की आशंका जतायी थी, वह भयावह रूप में सच साबित हुई है।

1.3 संगठन के तौर पर जनवादी लेखक संघ और दूसरे प्रगतिशील सांस्कृतिक संगठनों की सामूहिक सक्रियता के बावजूद सच्चाई यही है कि प्रगतिशील-जनवादी आंदोलन आज हाशिये पर है। शिक्षा संस्थानों से लेकर लोकप्रिय माध्यमों तक संस्कृति का जो भारी उद्योग चल रहा है, वह जनता की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र स्रोत बन गया है। वैकल्पिक स्रोत या तो नष्ट किये जा चुके हैं या अनुकूलित होने की प्रक्रिया में हैं। हम इस बात पर संतोष कर सकते हैं कि साहित्य की प्रबुद्ध धारा में अब भी सांप्रदायिकता और वित्तीय पूंजी से प्रेरित आर्थिक उदारवाद तथा इनकी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को लेकर तीखा प्रतिरोध है, लेकिन हाल की घटनाएं बताती हैं कि यहां भी दक्षिणपंथी, सांप्रदायिक और सवर्णवादी विचारधारा की पैठ बढ़ती जा रही है। पिछले दो दशकों में साहित्य में दलित, आदिवासी और स्त्री विमर्श का सकारात्मक उभार अवश्य हुआ है, किंतु दक्षिणपंथी रुझानों के बढ़ते दबाव और हमारी अपनी संकीर्णताओं के चलते इन विमर्शों के भी दक्षिणपंथ द्वारा समायोजित किये जाने का खतरा दरपेश है।

1.4 जनवादी लेखक संघ की स्थापना से लेकर अब तक का समय न सिर्फ़ राष्ट्रीय, बल्कि वैश्विक स्तर पर जबर्दस्त उथल-पुथल का दौर रहा है। जलेस के गठन के एक दशक के भीतर ही सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप की सभी समाजवादी व्यवस्थाएं एक-एक कर ढह गयी थीं और उन्होंने पूंजीवाद का मार्ग अपना लिया था। चीन की समाजवादी व्यवस्था भी इसी दौर में दो प्रणालियों के अपने विशिष्ट सिद्धांत के नाम पर समाजवाद की जगह पूंजीवाद का ही विस्तार करती प्रतीत होती है। इस पूरे दौर में अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी ताकतें पहले के किसी भी समय की

तुलना में ज्यादा मजबूत और हमलावर होती गयी हैं। इराक और अफगानिस्तान के विरुद्ध सीधी सैनिक कार्रवाई के अलावा आतंकवाद से लड़ाई के नाम पर लीबिया, सीरिया आदि देशों की संप्रभुता के उल्लंघन की कोशिशें भी लगातार बढ़ी हैं। सोवियत संघ के विघटन के बाद तीसरी दुनिया के देशों पर भूमंडलीकरण के नाम पर आर्थिक उदारीकरण की नीतियों को अपनाने का दबाव बढ़ता गया। भारत ने भी नेहरू युग की लोककल्याणकारी नीतियों को छोड़ कर आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण का रास्ता अपना लिया। गुजरे ढाई दशकों में हम इन नीतियों के भयावह नतीजों से रू-ब-रू हुए हैं। लगातार बढ़ती महंगाई और बेरोजगारी, कर्ज के बोझ तले दबे किसानों की आत्महत्याएं, औद्योगिक घरानों द्वारा बैंकों से लिये गये लाखों करोड़ रुपयों के कर्ज को डकार जाना और शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सार्वजनिक नागरिक सेवाओं का लगातार होता पतन और इन क्षेत्रों का बढ़ता व्यावसायीकरण गरीब और निम्नमध्यवर्ग के लोगों की ज़िन्दगी को कठिनतर बनाता जा रहा है। इन सबका असंतोष छोटे-छोटे आंदोलनों में तो फूटता रहा है, पर वह किसी व्यापक जनांदोलन का रूप लेता नज़र नहीं आ रहा। पिछले दो दशकों में मजदूरों, किसानों, खेत मजदूरों और मध्यवर्गीय कार्मिकों द्वारा कोई ऐसा जनांदोलन नहीं छेड़ा गया है जिससे सत्ताधारी वर्ग अपने लिए खतरा महसूस करें। ऐसे आंदोलन लेखकों और कलाकारों के लिए सदैव प्रेरणा के स्रोत बनते हैं।

1.5 इसी दौर में सांप्रदायिक फ़ासीवादी ताकतें पहले के किसी भी समय की तुलना में ज्यादा मजबूत हुई है। जलेस की स्थापना के दस साल बाद ही अयोध्या की चार सौ साल पुरानी बाबरी मस्जिद को ढहा दिया गया। उसके बाद देशव्यापी दंगों में संगठित रूप से मुसलमानों को हमलों का निशाना बनाया गया। यही कहानी 2002 में गुजरात में और बड़े पैमाने पर दोहरायी गयी और वह जिस व्यक्ति के मुख्यमंत्री रहते हुआ, वही आज भारत का प्रधानमंत्री है। इसी दौर में कई राज्यों में ईसाई समुदाय पर भी लगातार हमले होते रहे। अल्पसंख्यकों पर हमले की यह मुहिम कभी घरवापसी, कभी राष्ट्रवाद और कभी गोरक्षा के नाम पर आज अपने सबसे धिनौने रूप में जारी है और यह शहरों से निकलकर क़स्बों और गांवों तक फैल चुकी है। सांप्रदायिक फ़ासीवादी ताकतों ने हर उस अभिव्यक्ति पर हमला किया है जो भारत की धर्मनिरपेक्ष और समतामूलक साझा संस्कृति का समर्थन करती है। भारत जैसे बहुलतावादी देश में, जहां विभिन्न धर्मों, जातियों, नस्लों के लोग भिन्न-भिन्न भाषाओं और सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं के साथ सदियों से एकजुट होकर रहते आये हैं, किसी एक पहचान को सर्वोपरि मानना और उसे राष्ट्र की पहचान के साथ एकमेक करना कितना खतरनाक हो सकता है, इसे विभाजन की त्रासदी से समझा जा सकता है। इसके बावजूद सच्चाई यह है कि वे संगठन और लोग जो भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने की मुहिम में लगे हुए हैं, उनके अभियान में इस दौर में न सिर्फ तेज़ी आयी है बल्कि वे अपने लक्ष्य की ओर भी तेज़ी से बढ़ते जा रहे हैं। अपने राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के रास्ते में वे धार्मिक अल्पसंख्यक और धर्मनिरपेक्षतावादियों को ही बाधक नहीं मानते बल्कि हर उस विचार को अपना विरोधी मानते हैं जो धार्मिक परम्परा और संस्कृति की विविधता को स्वीकार करता है।

1.6 यह विचार करने की ज़रूरत है कि आज़ादी के इन सात दशकों में ऐसा क्या हुआ कि आज सत्ता की बागडोर ऐसी ताकतों के पास है जो देश के धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और बहुलतावादी ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करना चाहते हैं। क्या इसका संबंध आज़ादी के बाद उपजी परिस्थितियों से ही है या उससे पूर्व की परिस्थितियों से भी है जिन्हें

समझने में हमसे कहीं भूल हुई है? हमने अपने पहले घोषणापत्र में आजादी के आंदोलन और प्रगतिशील-जनवादी लेखन परंपरा की विरासत का जो गौर-द्वंद्व्यात्मक पाठ किया है, क्या वह सही था? क्या हमने भारतेन्दु से लेकर आजादी के समय तक के लेखन के अंतर्विरोधों और वैचारिक सीमाओं को पूरी तरह भुला नहीं दिया? आजादी की लड़ाई कितनी ही गौरवपूर्ण क्यों न रही हो, यह नहीं भूलना चाहिए कि इसी लड़ाई के दौरान हिन्दू और मुस्लिम सांप्रदायिक ताकतों भी मजबूत हो रही थीं और उनके असर का ही नतीजा है कि बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों से लेकर आजादी हासिल होने तक देश के कई भागों में सांप्रदायिक दंगे होने लगे थे। सांप्रदायिक विद्वेष को ब्रिटिश शासकों ने अपने हित में निरंतर इस्तेमाल किया। ऐसा नहीं है कि हिंदी-उर्दू के लेखकों ने इस खतरे को नहीं पहचाना था। प्रेमचंद सहित कई प्रगतिशील लेखकों ने इस खतरे को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी, लेकिन इसे जितनी गंभीरता से समझा जाना चाहिए था, वह नहीं समझा गया। यह दुखद तथ्य है कि विभाजन की विभीषिका को हिंदी के पंजाबी या मुस्लिम लेखकों ने ही अपनी रचनाओं का विषय बनाया। विभाजन के कारण जो विराट मानवीय विस्थापन हुआ, बड़े पैमाने पर जनसंहार हुए, हजारों की संख्या में स्त्रियां अपमानित हुईं, बच्चे अनाथ हुए, उसकी पीड़ा के आख्यान हिंदी-उर्दू क्षेत्र के हिंदी लेखकों के यहां इतने कम क्यों मिलते हैं? सांप्रदायिक ताकतों की ऐसी जीत कोई अचानक नहीं हुई है। गोया इस प्रदेश की अन्तश्चेतना में जमकर बैठी हुई चीज अब उभरकर सामने आ रही है।

2. नज़रिया

2.1 हमें अपनी परंपरा को आज की चुनौतियों के संदर्भ में देखने की ज़रूरत है। यह स्वीकार किये जाने की ज़रूरत है कि हिंदी-उर्दू प्रदेश सांप्रदायिक तनावों और सभी तरह के लोकतंत्रविरोधी रुझानों का केंद्र रहा है। यह शायद अकेला ऐसा क्षेत्र है जहां एक ही भाषा दो साहित्यिक परंपराओं के रूप में सामने आयी। 1857 के महाविद्रोह की युद्धभूमि भी यही है, पर साथ ही यह उन सामंती अत्याचारों की भी उपजाऊ ज़मीन रही है जिसकी पीड़ा सबसे ज़्यादा दलितों और स्त्रियों ने झेली है। लगातार चुनौतियों का केंद्र बने रहनेवाले इस प्रदेश में जनवादी संस्कृति-कर्म को बढ़ाने और अब तक जो हासिल किया है, उसे बचाये-बनाये रखने का संघर्ष लगातार करने की ज़रूरत है।

2.2 जिसे हम हिन्दी नवजागरण कहते हैं, वह ऐसे समय में शुरू हुआ जब भारतीय नवजागरण में उदारवाद की कार्यसूची पुनरुत्थानवाद और सम्प्रदायवाद के भारी दबाव में आ चुकी थी। समाज-सुधार और प्रतिगामिता की कश-म-कश के बीच हिन्दी नवजागरण का सूत्रपात ही हिन्दी भाषा और हिन्दी जातीयता की मिली-जुली संश्लिष्ट और समृद्ध परंपरा के विस्फोटक विभाजन की ज़मीन पर हुआ जहां हिन्दी का जातीय विमर्श खुलने से पहले ही 'हिन्दू विमर्श' और 'मुस्लिम विमर्श' में बदल गया और जातीय परम्परा की खोज 'शुद्धि' की खोज बन गयी। हालांकि हिन्दी नवजागरण को हिन्दू नवजागरण में घटा देना एक अतिसरलीकरण है, पर इसमें संदेह नहीं कि इसमें मौजूद साम्प्रदायिक फांका ने नवजागरण के जातीय और जनतांत्रिक सारतत्व को निर्णायक तरीके से कमज़ोर किया। आधुनिकीकरण का दबाव तो था, लेकिन सांप्रदायिकता, ब्राह्मणवाद और पितृसत्ता के बहुत आक्रामक रूप भी उसी का हिस्सा थे। इसी

नवजागरण काल में उच्च जातियों के जाति संगठन भी बने और हिंदी का बुद्धिजीवी इन संगठनों से जुड़ने में गर्व भी महसूस करता रहा। यह सब आधुनिकीकरण के हिस्से के तौर पर हो रहा था।

2.3 नवजागरण के पुनरुत्थानवादी स्वर का सांस्थानीकरण भी बड़े पैमाने पर हुआ और वह आज तक चला आ रहा है। हिंदी की बौद्धिकता का बड़ा हिस्सा इससे गहरे रूप में प्रभावित रहा है। हिंदी के प्रति हमारा सहज बोध नवजागरण के भीतर से ही पैदा हुआ है। हिंदी-उर्दू क्षेत्र में लोकतांत्रिक रवैये के स्तर पर जो पिछड़ापन और अंतर्विरोध दिखते हैं, उसके पीछे भी वही मनोवृत्ति है जो नवजागरण के गर्भ से निकली है। उसने एक ऐसा व्यक्ति तैयार किया जो आधुनिकता और पिछड़ेपन, दोनों का एक साथ फ़ायदा उठाने में मुब्तिला था। इसीलिए हमने बहुधा वर्ग-दृष्टि का उपयोग भी विचारधारात्मक मुद्दों को ध्वस्त करने के लिए किया। एक ऐसा वर्गवाद पनपा जिसने हमारी कमज़ोरियों पर पर्दा डालने का काम किया।

2.4 आज़ादी से पहले अपने गठन के साथ प्रगतिशील लेखक संघ और इप्टा ने जो भूमिका निभायी, उस पर गर्व करना सर्वथा उचित है, लेकिन स्वातंत्र्योत्तर दौर में बहुवर्गीय गठबंधन के बिखराव के साथ प्रलेस और इप्टा में धीरे-धीरे बिखराव आने लगा। नयी परिस्थितियों के साथ तालमेल न बिठा पाना इस बिखराव का कारण बना। लेकिन इसके आत्मगत कारणों की खोज करने और आवश्यक सुधारात्मक क़दम उठाने के बजाये हमने सारा दोष शीतयुद्ध की राजनीति और आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति पर मढ़ दिया। हमने उन सवालों को उठाने के बजाये जो जनता को दकियानूसी, भाग्यवाद और जातिवाद से बाहर निकाल पाते, तत्कालीन राजनीति से प्रेरित उन सवालों को अधिक अहमियत दी जिनका ग़रीबी और पिछड़ेपन में जी रही हिंदुस्तान की जनता से कोई वास्ता नहीं था। आधुनिकतावादी प्रवृत्ति का विरोध करते हुए हम आधुनिकता का भी विरोध करने लगे। हमने व्यक्ति-स्वातंत्र्य को प्रगतिशीलता का विरोधी मान लिया। एक रूढ़िवादी समाज में शिक्षित मध्यवर्ग के अंतर्विरोधों और विडंबनाओं को पेश करने वाले साहित्य को आधुनिकतावादी कहकर नकार देने का परिणाम यह हुआ कि मेहनतकश जनता से जुड़ने के नाम पर किसान और मज़दूर वर्ग के प्रति सहानुभूति तो साहित्य में व्यक्त हुई लेकिन स्वयं जनता के इस बड़े हिस्से में जड़ जमाये पिछड़ेपन की तीक्ष्ण आलोचना प्रायः संभव न हो सकी। धार्मिक रूढ़िवाद, अंधविश्वास, ब्राह्मणवाद, जातिवाद, सांप्रदायिकता, पितृसत्ता के गहरे प्रभाव की जैसी तीक्ष्ण आलोचना होनी चाहिए थी, वह नहीं हो पाई और आधुनिकतावाद के नकार के नाम पर प्रगतिशील आंदोलन में स्त्री विरोधी, दलित विरोधी, ब्राह्मणवादी और नरम सांप्रदायिक प्रवृत्तियां भी अपनी जगह बनाती रहीं।

2.5 जनवादी लेखक संघ की स्थापना के समय हिंदी साहित्य चिंतन और आलोचना में स्वातंत्र्योत्तर काल की बहसों और विचार सरणियों का ही असर था। यह महज़ संयोग नहीं है कि उस समय के घोषणापत्र में आधुनिकतावाद, अस्तित्ववाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्य आदि का उल्लेख किया गया है। लेकिन उसके बाद साहित्य के क्षेत्र में उत्तर आधुनिकतावाद, उत्तर संरचनावाद, विखंडनवाद आदि चर्चा के केंद्र में रहे हैं। बहुत से प्रगतिशील और जनवादी आलोचकों का इनके प्रति भी कमोबेश वैसा ही रवैया है जैसा आधुनिकतावाद और अस्तित्ववाद के प्रति प्रगतिशील आलोचकों का था। इन अवधारणाओं का विरोध करते हुए इन्हें भी साम्राज्यवादी साज़िश कहकर खारिज कर दिया

जाता है, जबकि इन अवधारणाओं के अस्तित्व में आने का कारण 1970-80 के दशकों और बाद की परिस्थितियों में निहित है। विध्वंसकारी हथियारों के बढ़ते जखीरे, यातायात साधनों के तीव्रतम विकास और सूचना और संचार प्रौद्योगिकी के विश्वव्यापी संजाल ने ही पूरी दुनिया को पहले के किसी भी समय से ज्यादा नजदीक और साथ ही साथ ज्यादा असुरक्षित बना दिया है। इस दौर में यदि एक ओर समाजवादी व्यवस्थाएं बाहरी और अंदरूनी संकटों और अंतर्विरोधों से घिरती जा रही थीं, तो दूसरी ओर पूंजीवाद के बढ़ते संकट के बावजूद साम्राज्यवादी व्यवस्थाएं तीसरी दुनिया के देशों को नवऔपनिवेशिकता के शिकंजे में कसती जा रही थीं। 1990 के दशक में सोवियत संघ के विघटन और नवउदारीकरण तथा निजीकरण की वैश्विक प्रक्रिया की उपज थी वह परिघटना, जिसे संस्कृतियों के संघर्ष के अवधारणा के रूप में पेश किया गया। इस परिघटना का ही एक पहलू अगर अस्मितामूलक विमर्श था, तो दूसरा वैश्विक आतंकवाद। इन परिस्थितियों और इनसे उपजी विभिन्न अवधारणाओं को सिर्फ खारिज करना पर्याप्त नहीं है, वरन उनको सही परिप्रेक्ष्य में समझने और उनके प्रभाव का सम्यक आकलन करने की जरूरत है।

2.6 साहित्य और विचार की दुनिया में इस बीच अस्मिताओं पर आधारित दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्श लगातार चर्चा में रहे हैं। दलितों, स्त्रियों और आदिवासियों का संघर्ष उन अन्यायों और भेदभावों के खिलाफ है जो उनके दलित, स्त्री या आदिवासी होने की वजह से उनके साथ बरते जाते रहे हैं और जिनकी व्याख्या पहचान-समूह को दरकिनार कर, सिर्फ वर्गीय आधार पर नहीं की जा सकती। इन संघर्षों का एक सकारात्मक पक्ष यह है कि ये मुक्ति की लड़ाई को अधिक समावेशी बनाने का काम करते हैं और कई अचिन्हित रह जाने वाले अन्यायों और भेदभावों को मुक्ति की लड़ाई की कार्यसूची पर ले आते हैं। लेकिन जहां ये संघर्ष अस्मितावाद में फंस कर रह जाते हैं, वहां लड़ाई को अधिक समावेशी बनाने के कार्यभार से किनारा कर वे अपने अर्थ और महत्त्व को खुद कमतर कर देते हैं। वहां एक अधिक अर्थपूर्ण दावेदारी को एक अपेक्षाकृत हल्की दावेदारी प्रतिस्थापित कर देती है। अधिक अर्थपूर्ण दावेदारी से आशय है, मुक्ति की लड़ाई में साझा बिंदुओं से सहमति रखते हुए अपने विशिष्ट पक्ष की अनदेखी या उपेक्षा को खत्म करने की मांग। अपेक्षाकृत हल्की दावेदारी का मतलब है, मौजूदा व्यवस्था और सामाजिक संबंधों के दायरे में अपनी अस्मिता या विशिष्ट पहचान को बनाये रखने पर जोर, जहां संघर्ष का लक्ष्य मौजूदा तंत्र के भीतर अधिक प्रतिनिधित्व, अधिक हिस्सेदारी तक ही सीमित हो जाता है। हिंदी के दलित आंदोलन ने अक्सर यह संकीर्णता दिखलायी है। दलित स्त्रीवादी आंदोलन ने जहां दलित आंदोलन के संकीर्णतावादी रुझानों के विरुद्ध आवाज़ उठायी है, वहीं इसने मुक्ति के साझा संघर्ष में दलित, स्त्री और आदिवासी प्रश्नों को शामिल करने की जरूरत को भी जोरदार ढंग से रेखांकित किया है।

2.7 दलित, स्त्री और आदिवासी प्रश्नों पर इस दौर में पर्याप्त समृद्ध साहित्य रचा गया है जिसके सरोकार व्यापक रूप से जनवाद की बहाली और उसकी हिफाजत से वाबस्ता है। साथ ही, इन प्रश्नों पर केंद्रित लेखन ने इस जरूरत का भी अधिक तीखे रूप में अहसास कराया है कि जनवाद के दमन को आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के साथ जोड़कर देखने के अलावा पितृसत्ता और दलित विरोधी सवर्ण मानसिकता के साथ भी जोड़कर देखा जाना चाहिए। इस रूप में देखे बिना जनपक्षधरता और जनवादी मूल्यों के पक्ष में चलाई जा रही मुहिम न सिर्फ अधूरी रहेगी बल्कि संभव है कि

कई मामलों में वह जनविरोधी और जनवादविरोधी भी साबित हो, जहां इस मुहिम के भागीदार ही अपने भीतर छिपे पितृसत्तात्मक और जातिवादी संस्कारों से लड़ने की ज़रूरत महसूस न करें, या अपने किसी कृत्य/कृति पर आते उन संस्कारों की छाप के प्रति सजग न रह पायें।

2.8 दलित-स्त्री-आदिवासी प्रश्नों के इस उभार का सकारात्मक पक्ष यह भी है कि इसने कलावादी धारणाओं और 'साहित्य की स्वायत्तता', 'साहित्य के स्वराज' तथा उसके विउपनिवेशीकरण (उसे राजनीति का उपनिवेश न बनाए जाने) के आग्रहों को पूरी तरह से अप्रासंगिक बना देने में बड़ी भूमिका अदा की है। यों कुल मिलाकर पूरी दुनिया की बौद्धिक-वैचारिक आबोहवा में इन धारणाओं और आग्रहों के लिए प्राणवायु नगण्य हो गयी है। कौन लिख रहा है और किस अवस्थिति से लिख रहा है—एसे सवाल, तथा सामाजिक सरोकार और पक्षधरता से जुड़े सवाल आज तमाम बहसों का दायरा तय कर रहे हैं। निश्चित रूप से इसका मतलब यह नहीं है कि साहित्य के रूप और उसकी कलात्मकता से जुड़े मसायल बेमानी हो गये हैं। इसका मतलब सिर्फ़ इतना है कि इन मसायल को परम निरपेक्ष रूप में देखने की पद्धति बीते ज़माने की चीज़ हो गयी है। हमारे यहां अगर प्रगतिशील-जनवादी आंदोलन ने इस पद्धति को सबसे तीव्र आघात पहुंचाया था, तो दलित-स्त्री-आदिवासी प्रश्नों के उभार ने इसकी गतकालिकता पर अंतिम मोहर लगा दी है।

2.9 पिछले तीन दशकों में मास मीडिया का विस्तार अभूतपूर्व ढंग से हुआ है। मोबाइल, टेलीविजन, टेलीफोन जैसे संचार-साधन केवल शहरों और कस्बों तक सीमित नहीं हैं। इनका विस्तार गांवों और कुछ हद तक गरीबों में भी हुआ है। इंटरनेट का विस्तार और सर्वसुलभता भी इस दौर की महत्वपूर्ण परिघटना है। आज मीडिया में इंटरनेट के माध्यम से प्रसारित होने वाले विभिन्न वेबसाइट, सोशल साइट, ब्लॉग आदि भी हैं, जिनके माध्यम से व्यक्ति अपने कंप्यूटर के जरिये पूरी दुनिया से संपर्क और संवाद कर सकता है। मास मीडिया ने न सिर्फ़ अर्थनीति और राजनीति बल्कि समाज और संस्कृति पर भी गहरा प्रभाव डाला है। पूंजी के वैश्वीकरण को संभव बनाने में सूचना और संचार की नयी प्रौद्योगिकी की बहुत बड़ी भूमिका है। सूचना और संचार क्रांति ने नैगमीकरण और वैश्वीकरण की प्रवृत्तियों को मजबूत किया है। विश्व में राष्ट्रों, समुदायों और व्यक्तियों के बीच विषमता और वैमनस्य बढ़ाने में भी इस नयी प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किया जा रहा है। यह तथ्य भारत पर भी लागू होता है जहां प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, दोनों पर देशी-विदेशी निगमों का एकाधिकार है।

2.10 कॉरपोरेट मीडिया का पूरा ढांचा वर्गीय हितों के अनुरूप निर्मित हुआ है। इसके लिए मीडिया भी उन विचारधाराओं, मान्यताओं और विश्वासों का सहारा लेता है जिनकी पकड़ जनता के बड़े हिस्से पर पहले से है। लोगों में व्याप्त देशभक्ति की भावना, धर्म के प्रति आस्था और परंपरागत मान्यताओं का इस्तेमाल मीडिया अपने उत्पादों को लोकप्रिय बनाने के लिए करता है। इनकी आड़ में वह वास्तविक इरादों को छुपाने में कामयाब रहता है। इस प्रकार नैगम मीडिया सीधे तौर पर अभिव्यक्ति पर नियंत्रण करने की बजाय अप्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्ति को नियमित करता है। वह मंच होने का ढांग रचता है, प्रचारात्मक होने से इन्कार करता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि वह अपने वर्गीय हितों को सर्वोपरि मानकर काम करता है और इसके लिए ऐसे भ्रमों की सृष्टि करता है जिसे नोम चोम्स्की ने 'अनिवार्य भ्रमों' की संज्ञा दी है।

2.11 भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का संघर्ष बहुआयामी और जटिल है। यह मीडिया पर निगमों के वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष भी है और सांप्रदायिक फ़ासीवाद की ताकतों द्वारा मीडिया पर वैचारिक नियंत्रण के विरुद्ध संघर्ष भी है। यह जनता की विभिन्न कतारों को धर्म और जाति के आधार पर बांटने और आपस में लड़ाने की कोशिशों के लिए मीडिया के इस्तेमाल के विरुद्ध भी संघर्ष है और यह जनता को एकजुट रखने और देश की बहुलतावादी सांस्कृतिक विरासत को बनाए रखने के पक्ष में मीडिया की सकारात्मक भूमिका के लिए किया जाने वाला संघर्ष भी है। और यह संघर्ष न तो सिर्फ़ मीडिया के ज़रिये लड़ा जा सकता है और न ही मीडिया तक सीमित रह सकता है।

2.12 सूचना और संचार क्रांति के इस दौर में अभिव्यक्ति के नये-नये माध्यमों की उपलब्धता के बीच, संगठित होने के सवाल को लेकर लेखकों के बीच एक तरह की उपेक्षा बड़े पैमाने पर देखी जा सकती है। इस दौर में न पत्र-पत्रिकाओं की कमी रही है और न इंटरनेट और सोशल मीडिया पर किसी तरह का प्रतिबंध रहा है। लेखकों के पास अपनी बात कहने और अन्य लेखकों से दो-चार होने के ठिकाने ढेरों हैं। इसलिए लेखकों का एक बड़ा समुदाय संगठित होने को अपने रचनाकर्म में अवरोध के रूप में ही देखता रहा है जबकि इस बहुआयामी विकास के बावजूद रचनाकर्म को विकसित करने और उसे कारगर हस्तक्षेप का रूप देने के लिए वैज्ञानिक आलोचनात्मक विवेक पर आधारित, लेखकों के एक लोकतांत्रिक संगठन की ज़रूरत बनी रहती है। पिछले कुछ सालों में लेखकों और संस्कृतिकर्मियों के रचनाकर्म/प्रदर्शनों पर जिस तरह चौतरफ़ा हमले हो रहे हैं, उनका मुकाबला कोई लेखक और कलाकार अकेले नहीं कर सकता। इस दौरान लेखकों, कलाकारों और संस्कृतिकर्मियों ने जिस तरह एकजुट होकर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हो रहे हमले का प्रतिरोध किया है, वह भी इस बात की गवाही देता है कि आज उनकी एकजुटता पहले के किसी भी समय से ज़्यादा ज़रूरी है।

2.13 जनवादी लेखक संघ ऐसे तमाम लेखकों से एकजुट होकर अपनी रचनात्मक शक्ति को संगठित करने का आह्वान करता है जो साहित्य की वस्तु, रूप और शैलियों के बारे में अपने दृष्टिकोणों और रुचियों की विविधता के बावजूद जनवाद में यकीन रखते हैं, जो जातिवाद, सांप्रदायिकता और पितृसत्ता के विरोधी हैं, जो साम्राज्यवाद की विस्तारवादी नीतियों और मनुष्य से लेकर प्रकृति तक का अंधाधुंध दोहन करने की उसकी असमाप्य भूख के खिलाफ़ हैं, जो साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जनविरोधी, मानवविरोधी और पश्चगामी प्रवृत्तियों के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाते हैं, जो दलित, आदिवासी और स्त्री लेखन को समाज के उत्पीड़ित हिस्सों की मुक्तिकामी आवाज़ मानते हैं और उस लेखन को जनवादी रचनाकर्म का अभिन्न अंग समझते हैं।

2.14 इन बुनियादी पक्षधरताओं के साथ साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में कारगर हस्तक्षेप जनवादी लेखक संघ का उद्देश्य है। यह परिदृश्य आज व्यापक तौर पर दो अतियों में बंटा हुआ दिखता है। एक ओर लोकप्रिय संस्कृति के हलके में बड़े पैमाने पर जनविरोधी और जनसरोकारों से विमुख सतही किस्म के सांस्कृतिक उत्पादन को सुनिश्चित करने वाली बाज़ार की ताकतों का नियंत्रण है, तो दूसरी ओर सुरुचिपूर्ण कला-आस्वाद को एक छोटे समूह की विशिष्ट योग्यता के रूप में देखने का उच्चभ्रू दुराग्रह। हालांकि इन दोनों पक्षों की बात करते हुए बहुत सरलीकृत निष्कर्ष निकालने से बचना चाहिए। ऐसा नहीं है कि बाज़ार-नियंत्रित सांस्कृतिक उत्पादों की उस नियंत्रण से कोई

आंखमिचौली नहीं चलती और वे जनता में व्याप्त रूढ़ धारणाओं को हमेशा सहलाने और उन्हें भुलावे में ही रखने का काम करते हैं। ऐसा भी नहीं है कि सुरुचिपूर्ण कला-आस्वाद की बात करना ही अपने-आप में जनता को नीचा देखने का कोई प्रमाण है। भूलना नहीं चाहिए कि 'कला कला के लिए' का नारा मूलतः कला की सामाजिकता के विरोध में नहीं, पूंजीवादी बाज़ार द्वारा संचालित उस मुनाफ़ाखोर थोक उत्पादन के विरोध में था जो कला को खरीद-बिक्री की शर्तों से बंधने के लिए बाध्य कर रहा था। लिहाज़ा, जिन दो अतियों का जिक्र किया गया, उन्हें एकदम सफ़ेद-स्याह बंटवारे की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। फिर भी, यह सच है कि सांस्कृतिक जगत में एक ओर बाज़ार और दूसरी ओर उच्चभ्रू दुराग्रह द्वारा थोपी गयी सरोकारविहीनता बड़े पैमाने पर देखी जा सकती है। इनके बीच के अंतराल में वे लेखक-संस्कृतिकर्मी हैं जो सीमित साधनों के बूते अपने सृजन को बाज़ार की ताकतों के नियंत्रण से आज़ाद रखते हुए लोकप्रिय बनाने तथा कलात्मक सुरुचि को नये सिरे से परिभाषित करते हुए उसे सामाजिक वास्तविकताओं और प्रतिरोध की चेतना के साथ जोड़ने के लिए प्रयासरत हैं। जलेस इन्हीं प्रयासों को एक सांगठनिक आधार मुहैया कराने में अपना औचित्य देखता है। संगठन के बिना ऐसे प्रयास बहुत नतीजाखेज नहीं हो सकते क्योंकि सांस्कृतिक परिदृश्य को आपस में बांट लेने वाले उक्त दोनों रुझानों को पूंजी और राज्य का विराट सहयोग और समर्थन हासिल है। व्यक्तिगत प्रयासों के कई प्रीतिकर रूप से आश्चर्यजनक नतीजों की अनदेखी न करते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि ऐसे प्रयासों को संगठन-शक्ति के आधार पर ही अधिक व्यापक रूप देने की कल्पना की जा सकती है। दूसरी ओर, ऐसे प्रयासों के बीच कड़ी बनने, उनके लिए साधन और तंत्र मुहैया कराने तथा सर्वोत्तम स्थितियों में ऐसे प्रयासों का अगुआ, मार्गदर्शक या उद्गम-केंद्र बनने की प्रक्रिया में ही संगठन अपना अर्थ पाता है।

2.15 अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, लोगों के संविधान प्रदत्त नागरिक अधिकारों और भारत की बहुलतावादी साझा सांस्कृतिक परंपरा पर आज जिस तरह के हमले हो रहे हैं, और जिनकी ज़द में हर तरह की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति आ गयी है, यहां तक कि लोकप्रिय और अभिजात सांस्कृतिक रूप भी नहीं बचे हैं, ऐसे हमलों के बीच लेखकों और संस्कृतिकर्मियों की एकजुटता और एक व्यापक प्रतिरोध आंदोलन को संगठित और सक्रिय करने की ज़रूरत की अनदेखी नहीं की जा सकती। यह आपसी मतभेदों और मनमुटावों से ऊपर उठकर एक साथ खड़े होने का समय है। आज लेखक के तौर पर हमारी अस्मिता ही खतरे में नहीं है, वरन एक नागरिक के तौर पर हमारी स्वतंत्रता भी खतरे में है। यह इतिहास का वह क्षण है, जब हमारी थोड़ी-सी ग़फ़लत के भयावह नतीजे निकल सकते हैं।

2.16 इसी समझ के साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में जलेस के हस्तक्षेप के लिए कार्यक्रम की रूपरेखा बनाना आवश्यक है। ये कार्यक्रम दो स्तरों पर बनाने होंगे। कार्यक्रम या कार्ययोजना का स्थायी रूप जो जनवादी लेखक संघ के लिए सदैव दिश-निर्देश का काम करेंगे और जो जनवादी लेखक संघ के होने का औचित्य प्रस्तावित करते हैं। दूसरा, कार्यभारों का फौरी रूप जिनका निर्धारण प्रत्येक राष्ट्रीय सम्मेलन के दौरान किया जाएगा और जिनके आधार पर अगले राष्ट्रीय सम्मेलन तक जलेस के लिए ज़रूरी कार्यभार तय किये जायेंगे।

3.0 कार्यक्रम

जनवादी लेखक संघ की इकाइयां अपनी क्षमता भर इन कामों को अंजाम देने के लिए प्रतिबद्ध हैं:

- 3.1 सांप्रदायिकता, जातिवादी उत्पीड़न, स्त्रीविरोधी रुझानों, क्षेत्रवाद, अंधराष्ट्रवाद और पूंजी की तानाशाही के खिलाफ लेखन की दुनिया में सुनियोजित अभियान चलाना।
- 3.2 निरंतरता में बने रहने वाले इन सभी रुझानों की समय-समय पर सामने आने वाली मुखर आक्रामक अभिव्यक्तियों का संगठित मुकाबला करने के मकसद से विभिन्न धाराओं के लेखकों, संस्कृतिकर्मियों के बीच फ़ौरी मोर्चे बनाने और मुहिम छेड़ने की पहल करना।
- 3.3 उत्पीड़ित और हाशिये के समाजों (दलित, आदिवासी, स्त्री और धार्मिक अल्पसंख्यक) से जुड़े रचनाकारों और उनके रचनाकर्म को साहित्य के जनवादी आंदोलन का अपरिहार्य हिस्सा मानते हुए उन्हें प्रोत्साहित करने, मंच प्रदान करने और संरक्षित करने का दायित्व निभाना।
- 3.4 विशिष्ट राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर संवेदनशीलता जगाने वाले, प्रतिरोध की छवियां पेश करने वाले और संचार माध्यमों की मुख्यधारा पर हावी आस्वाद से भिन्न आस्वाद का परिचय देने वाले साहित्य को जनता के बीच ले जाने के लिए वैकल्पिक माध्यमों का निरंतर अनुसंधान।
- 3.5 सरकारी और राष्ट्रीय बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा नियंत्रित संचार माध्यमों की जनविरोधी और जनवाद विरोधी भूमिका के प्रति लोगों की आलोचनात्मक समझदारी को विकसित करना।
- 3.6 साहित्यिक बहसों को ऐसी दिशा देने का प्रयास करना जहां स्थापित मूल्यांकनों को भी लगातार प्रश्नांकित करने का खुलापन हो, रचना और आलोचना की किसी भी परंपरा के प्रति गैर-आलोचनात्मक रवैया अपनाने का आग्रह न हो, और जनवादी ताकतों की एकजुटता के लिए अधिकतम सहमतियों पर नहीं, बल्कि न्यूनतम सहमतियों पर बल हो।
- 3.7 जनांदोलनों के साथ लेखकों के जुड़ाव को सुनिश्चित करने वाली कड़ी के तौर पर काम करना।
- 3.8 प्रतिबंधों के खिलाफ और अभिव्यक्ति की आजादी के पक्ष में मुहिम चलाना।
- 3.9 छोटी-छोटी जगहों पर, अपने-अपने कारणों से लेखन में प्रवृत्त होते बहुसंख्य लोगों को अभिव्यक्ति का मंच प्रदान करना और उन्हें साहित्यिक मुख्यधारा से तथा साहित्यिक मुख्यधारा को उनसे परिचित कराना।
- 3.10 उर्दू भाषा और लिपि को उसका लोकतांत्रिक अधिकार और सम्मान दिलाने के लिए संघर्ष।
- 3.11 उर्दू सीखने के लिए कक्षाओं का आयोजन।
- 3.12 ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी, मारवाड़ी, गढ़वाली आदि में जो साहित्यिक अभिव्यक्तियां सामने आ रही हैं, उन्हें एक 'नेटवर्क' में जोड़ना, उन्हें व्यापकतर संबोध्य क्षेत्र मुहैया कराना और हिंदी-उर्दू क्षेत्र के साहित्यिक हाशिये से बाहर लाने का अभियान चलाना।
- 3.13 रचना की प्रतिष्ठित दुनिया के बाहर चल रही तमाम रचनात्मक कोशिशों को बीच बहस में लाते हुए ऐसी कार्यशालाओं और संगोष्ठियों का आयोजन जहां एक सुसंगत राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य विकसित करने और अभिव्यक्ति की सुघरता अर्जित करने का समेकित प्रयास हो।
- 3.14 वैचारिक और रचनात्मक प्रश्नों पर कार्यशालाओं और सुविस्तृत व्याख्यान शृंखलाओं का आयोजन।

- 3.15 साहित्य, कला और संस्कृति से संबंधित सरकारी और अर्धसरकारी संस्थाओं की स्वायत्तता और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष।
- 3.16 क्षेत्रीय रचनाकारों की सामग्री को संरक्षित करना, उनसे संबंधित कार्यक्रम करवाना। (हम अपने क्षेत्र की धरोहर को संरक्षित करने के लिए संसाधन-केंद्र (रिसोर्स सेंटर) बनाने पर विचार कर सकते हैं।)
- 3.17 ऑडियो-वीडियो रिकॉर्डिंग के माध्यम से अपने वयोवृद्ध रचनाकारों का दस्तावेजीकरण।
- 3.18 हर राज्य में पांडुलिपियाँ, पुरानी पत्रिकाएँ, दस्तावेज़ आदि कहाँ-कहाँ और किस हालत में हैं, इसकी अद्यतन रिपोर्ट तैयार करना।
- 3.19 स्थानीय इतिहास के लेखन के लिए परियोजना बनाना जो प्रतिक्रियावादी ताकतों द्वारा स्थानीय इतिहास के विद्रूपीकरण का जवाब हो।
- 3.20 इकाइयों द्वारा अपने-अपने क्षेत्र के होनेवाली बड़ी घटनाओं की, मौक़े पर जाकर, तथ्यान्वेषी रपट बनाना/जारी करना।
- 3.21 हमारी परम्परा की साझा और बहुलतावादी प्रकृति का दस्तावेजीकरण।
- 3.22 पुराने पुस्तकालयों को बचाने और सुधारने के लिए संघर्ष।
- 3.23 लेखकों के प्रकाशकीय हितों के लिए संघर्ष।
- 3.24 आर्थिक अभाव से जूझते लेखकों के लिए आवश्यक मदद मुहैया कराने के प्रयास।